Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-7| July-2026

Original Article

रणेन्द्र के कथा साहित्य में आदिवासी चेतना : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अरविन्द वर्मा[1], प्रो. (डॉ.) विजय कुमार वर्मा [2]

[1]शोधार्थी (हिन्दी)

[2]प्रोफेसर-हिन्दी, जवाहरलाल नेहरू स्मारक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाराबंकी।, (सम्बद्ध -डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या)

Manuscript ID:
JRD -2026-180724
ISSN: 2230-9578
Volume 18
Issue 7
Pp. 122-125
July- 2026
Submitted: 15 June. 2026
Revised: 25 June. 2026
Accepted: 10 July. 2026
Published: 31 July. 2026

संक्षेपिका

प्रस्तुत शोध–आलेख समकालीन हिन्दी कथा–साहित्य के मूर्धन्य स्तंभ रणेन्द्र के औपन्यासिक संसार में प्रस्फुटित होने वाली आदिवासी चेतना का एक गंभीर, समीक्षात्मक और सौंदर्यशास्त्रीय अनुशीलन है। इक्कीसवीं सदी के अस्मितामूलक विमर्शों की श्रृंखला में आदिवासी विमर्श महज एक साहित्यिक आंदोलन नहीं, अपितु जल–जंगल–जमीन की संप्रभुता को अक्षुण्ण रखने का एक युगांतरकारी सभ्यतामूलक संघर्ष है। प्रस्तुत आलेख पारंपरिक गैर–आदिवासी लेखन की 'सहानुभूति' और आधुनिक आदिवासी स्वलेखन की 'स्वानुभूति' के मध्य व्याप्त संरचनात्मक अंतर्संबंधों को उद्घाटित करता है। रणेन्द्र के त्रयी उपन्यासों–'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश' और 'गूंगी रुलाई का कोरस'– के आलोक में विस्थापन की विभीषिका, पूँजीवादी औपनिवेशिकता, राज्य–तंत्र की संवेदनहीनता, सांस्कृतिक संक्रमण, स्त्री अस्मिता और पौराणिक मिथकों के प्रति–आख्यान का सांगोपांग मूल्यांकन इस शोध का मुख्य ध्येय है।

बीज शब्द– *औपन्यासिक, आदिवासी विमर्श, पौराणिक मिथक, विस्थापन, महाजासदी, सांस्कृतिक संक्रमण, भूमंडलीकरण, स्त्री अस्मिता, पर्यावरणीय संकट।*

प्रस्तावना– समकालीन विमर्श और अरण्य चेतना का उदय

समकालीन हिन्दी साहित्य का वैचारिक परिदृश्य विगत कुछ दशकों में अभूतपूर्व रूप से लोकतांत्रिक, समावेशी और बहुआयामी हुआ है। मुख्यधारा के प्रभुत्वशाली विमर्शों ने इतिहास के लंबे कालखंड तक जिन उपेक्षित, वंचित और शोषित समाजों को हाशिए की अंधकारमय कंदराओं में ढकेल रखा था, वे अब अपनी संपूर्ण सांगठनिक मेधा और वैचारिक ऊर्जा के साथ साहित्यिक केंद्र में स्थापित हो रहे हैं। दलित और स्त्री विमर्श के समानांतर ही 'आदिवासी विमर्श' ने हिन्दी आलोचना और रचनात्मकता को सबसे गहरे धरातल पर आंदोलित किया है। यह विमर्श केवल कुछ नए, कौतूहलपूर्ण विषयों को साहित्य की परिधि में समाविष्ट करने तक सीमित नहीं है, वरन यह उस तथाकथित 'आधुनिक पश्चिमी विकास' की आत्मघाती अवधारणा पर भी एक यक्ष प्रश्न चिन्ह खड़ा करता है जिसने मनुष्य और प्रकृति के शाश्वत सह–अस्तित्व को समूल नष्ट कर दिया है।

आदिवासी चेतना मूलतः अरण्य संस्कृति और प्रकृति–केंद्रित जीवन दृष्टि की चेतना है, जो वैश्विक पर्यावरण संकट के इस भयावह दौर में संपूर्ण मानवता के लिए एक संजीवनी बनकर उभरती है। जहाँ पश्चिमी भौतिकवादी दर्शन और मुख्यधारा की संभ्रांत चेतना प्रकृति पर विजय प्राप्त करने, उसे दासी बनाने और उसके दोहन को ही 'विकास' का पर्याय मानती है, वहीं आदिवासी दर्शन प्रकृति के साथ रागविरागात्मक तालमेल बिठाकर जीने को जीवन का परम सत्य मानता है। यही कारण है कि जब नव–उदारवाद, भूमंडलीकरण और अनियंत्रित पूँजीवाद ने आदिवासियों के इस नैसर्गिक पर्यावास पर क्रूर प्रहार किया, तो हिन्दी कथा–साहित्य में एक अत्यंत प्रखर और जुझारू प्रतिरोधी चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। रणेन्द्र का कथा साहित्य इसी आदिम, समतावादी और सह–अस्तित्ववादी समाज की रक्षा की एक बौद्धिक एवं रचनात्मक हुंकार है, जो विनाश के कगार पर खड़ी एक आदिम सभ्यता के अस्तित्व को बचाने हेतु व्याकुल है।

ऐतिहासिक विकास–क्रम – सहानुभूतिपरक विन्यास से स्वानुभूति की क्रांति तक

यदि हम हिन्दी साहित्य के समृद्ध इतिहास की वीथियों पर दृष्टिपात करें, तो आदिवासियों का चित्रण पूर्णतः नवीन अथवा अछूता विषय नहीं प्रतीत होता। आदिकाल के लोक–साहित्य और रासो काव्यों से लेकर भक्तिकाल में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में वर्णित 'बनवासी' प्रसंगों' (कोल, किरात, भील, शबर) तक आदिवासियों का उल्लेख मिलता है, जहाँ उन्हें राम की सेना के रूप में या निश्छल भक्तों के रूप में चित्रित किया गया है। आधुनिक काल में छायावाद के कवियों–मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा जैसे मनीषियों ने भी अपनी गद्य एवं पद्य रचनाओं में अरण्यवासियों के प्रति अपनी अगाध मानवीय संवेदना व्यक्त की थी। परंतु, इस पूर्वाग्रह–मुक्त शुरुआती दौर के लेखन की एक अकादमिक सीमा थी। यह संपूर्ण लेखन 'सहानुभूति' के धरातल पर प्रतिष्ठित था, जहाँ बाहरी समाज का सुशिक्षित लेखक आदिवासियों को दया, कौतूहल, या केवल कंदराओं मंम निवास करने वाले सीधे–सादे, अबोध प्राणियों के रूप में रेखांकित करता था। इक्कीसवीं सदी के आगमन के साथ ही इस रूढ़िवादी दृष्टिकोण में एक युगांतरकारी और क्रांतिकारी परिवर्तन परिलक्षित होता है, जिसे हिन्दी आलोचना में 'सहानुभूति' से 'स्वानुभूति' तथा 'भोगा हुआ यथार्थ' की ओर संक्रमण कहा जाता है।

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)
This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International Public License, which allows others to remix, tweak, and build upon the work noncommercially, as long as appropriate credit is given and the new creations ae licensed under the idential terms.

Address for correspondence:
अरविन्द वर्मा शोधार्थी (हिन्दी)

How to cite this article:
वर्मा, अरविन्द. & वर्मा, विजय. कुमार. (2026). रणेन्द्र के कथा साहित्य में आदिवासी चेतना: एक समीक्षात्मक अध्ययन. Journal of Research and Development, 18(7), 122–125.
https://doi.org/10.5281/zenodo.21942776

Quick Response Code:
Website: https://jrdrvb.org/
DOI: 10.5281/zenodo.21942776
OPEN ACCESS

Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-7| July-2026

जब स्वयं आदिवासी समाज के भीतर से शिक्षित, सचेत और बौद्धिक रचनाकारों ने अपनी कलम उठाई, तो उन्होंने मुख्यधारा के लेखकों द्वारा निर्मित 'रोमांटिक अरण्य' के भ्रम को तोड़कर रख दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं में यह स्पष्ट किया कि मुख्यधारा का तथाकथित 'सभ्य' समाज उन्हें मुख्यधारा में 'शामिल करने और 'सभ्य' बनाने का जो स्वांग रचता है, वह वास्तव में उनकी स्वायत्त संस्कृति, उनकी संप्रभुता और उनकी विशिष्ट पहचान को समूल नष्ट करने की एक सुविचारित सांस्कृतिक साम्राज्यवादी साजिश है। इस प्रकार, समकालीन आदिवासी चेतना ने हिन्दी साहित्य को एक ऐसा प्रति–आख्यान प्रदान किया है, जो विजेताओं के इतिहास लेखन को सिरे से खारिज करता है।

जल–जंगल–जमीन की संप्रभुता और विस्थापन की महात्रासदी

आदिवासी समाज के दार्शनिक और भौतिक चिंतन में 'जल, जंगल और जमीन' केवल आजीविका के भौतिक साधन मात्र नहीं हैं, अपितु यह उनकी धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आत्मिक अस्मिता का मूल प्राण–तत्व हैं। जब कोई लोक–कल्याणकारी राज्य, सरकार या बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेट संजाल उनसे उनकी पैतृक भूमि छीनता है, तो वह केवल उनका आर्थिक रोजगार नहीं छीनता, बल्कि उनकी सदियों पुरानी स्मृतियों, उनके देवताओं, उनकी कलाओं और उनकी पूरी जीवन–शैली को जीवित दफ्न कर देता है। स्वतंत्र भारत के नेहरूवादी 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' और भारी उद्योगों के विकास मॉडल के तहत निर्मित बड़े बांधों, राष्ट्रीय अभ्यारण्यों और विशाल खनन परियोजनाओं ने करोड़ों मूल निवासियों को उनकी जल–जंगल–जमीन से क्रूरतापूर्वक बेदखल कर दिया है। अपनी ही संप्रभु भूमि पर अचानक 'शरणार्थी' और 'अनाधिकृत' बन जाने का यह दारुण दर्द समकालीन कथा साहित्य का केंद्रीय वैचारिक सरोकार बन गया है।

इस विस्थापन की अमानवीय विभीषिका को कथाकार संजीव ने अपने बहुचर्चित उपन्यास 'धार' में अत्यंत सूक्ष्मता से उकेरा है, जहाँ उन्होंने कोयला खदानों के आस–पास पलने वाले नरक का चित्रण किया है। इसी क्रम में, महुआ माजी ने अपने कालजयी उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में झारखंड के जादूगोड़ा क्षेत्र में होने वाले यूरेनियम खनन और उससे उत्सर्जित होने वाले जानलेवा परमाणु विकिरण की त्रासदी को राष्ट्रीय पटल पर स्थापित किया है। यह उपन्यास रोंगटे खड़े कर देने वाले यथार्थ के माध्यम से दिखाता है कि किस तरह देश की 'परमाणु ऊर्जा सुरक्षा' की वेदी पर एक हंसते–खेलते, गीत–संगीत से सराबोर आदिवासी समाज को अपंगता, कैंसर, आनुवंशिक विकृतियों और असमय मृत्यु के अंधकारमय गर्त में धकेल दिया गया। विस्थापन की यह प्रक्रिया आदिवासियों को महानगरों की मलिन बस्तियों की ओर पलायन करने पर विवश करती है, जहाँ वे बंधुआ मजदूर या घरेलू दास बनने को अभिशप्त हैं, और जहाँ उनकी मानवीय गरिमा को हर पल पूँजी के बूटों तले कुचला जाता है।

रणेन्द्र के उपन्यासों में आदिवासी विमर्श का नव–क्षितिज

कथाकार रणेन्द्र समकालीन हिन्दी उपन्यास के उन गिने–चुने प्रकाश–स्तंभों में से हैं, जिन्होंने प्रशासनिक दायित्वों का निर्वहन करते हुए आदिवासी जीवन के अंतर्विरोधों, उनकी छटपटाहट और उनके प्रतिरोधी तेवरों को न केवल बहुत समीप से देखा है अपितु उसे दस्तावेजी प्रामाणिकता के साथ अपनी कृतियों में दर्ज किया है। उनका प्रथम उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009) समकालीन हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक युगांतरकारी प्रस्थान–बिंदु है। यह उपन्यास झारखंड के नेतरहाट पाठ पठार क्षेत्र की अत्यंत पिछड़ी, लुप्तप्राय और आदिम 'असुर' जनजाति के जीवन, उनकी लोक–संस्कृति और उनके वर्तमान अस्तित्ववादी संकट पर आधारित है। रणेन्द्र ने अकादमिक गद्य के माध्यम से यह उद्घाटित किया है कि किस तरह बॉक्साइट खनन के नाम पर कॉर्पोरेट कंपनियाँ, स्थानीय भू–माफिया और राज्य की भ्रष्ट नौकरशाही का अपवित्र त्रिकोण मिलकर दुनिया की सबसे प्राचीन धातु–विज्ञानी जनजाति को उनके ही जंगलों से खदेड़ रहा है। यह उपन्यास विकास के उस चमकीले छद्म मुखौटे को क्रूरता से नोच देता है, जिसके पीछे केवल पूँजीपतियों की अंतहीन लोलुपता छिपी है।

रणेन्द्र का द्वितीय उपन्यास 'गायब होता देश' (2014) आदिवासियों की जमीनों को हड़पने के कानूनी, राजनीतिक और प्रशासनिक चक्रव्यूह को अत्यंत बेबाकी से उजागर करता है। यह उपन्यास दिखाता है कि किस तरह सीएनटी और एसपीटी जैसे आदिवासियों के जीवन की रक्षा करने वाले संवैधानिक सुरक्षा कवचों की धज्जियां उड़ाकर कॉर्पोरेट घराने और रियल एस्टेट माफिया आदिवासियों की पवित्र भूमि पर अवैध रूप से कंक्रीट के जंगल खड़े कर रहे हैं। उनके तीसरे उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' (2021) में रणेन्द्र ने आर्थिक विस्थापन से आगे बढ़कर आदिवासियों के 'सांस्कृतिक विस्थापन' को अपनी चिंता का केंद्र बनाया है। इस उपन्यास में उनके पारंपरिक वाद्ययंत्रों, उनकी लोक–कलाओं, उनकी बोलियों और सामूहिक उत्सवधर्मिता के क्रमिक अवसान की वेदना को अत्यंत काव्यात्मक एवं गंभीर गद्य शैली में पिरोया गया है। रणेन्द्र का संपूर्ण कथा साहित्य यह प्रमाणित करता है कि आदिवासी चेतना केवल विलाप का साहित्य नहीं, अपितु एक अत्यंत सुविचारित राजनीतिक और बौद्धिक संघर्ष का महाआख्यान है।

पूँजीवाद, नौकरशाही और दमन चक्र की अमानवीय जुगलबंदी

रणेन्द्र के कथा साहित्य की एक विशिष्ट आलोचनात्मक विशेषता यह है कि वे एक प्रशासनिक अधिकारी होने के बावजूद व्यवस्था की संवेदनहीनता, उसके अंतर्निहित जातिवादी व वर्गीय चरित्र को बेनकाब करने में रत्ती भर भी संकोच नहीं करते। उनके उपन्यासों में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य और उसके अंग– पुलिस, न्यायपालिका और नौकरशाही – किस तरह मूकदर्शक बनकर पूँजीपतियों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों की रक्षा में संलग्न हैं। जब कॉर्पोरेट घराने किसी आदिवासी अंचल में प्रवेश करते हैं, तो राज्य की मशीनरी आदिवासियों की संरक्षक बनने के बजाय शोषकों की लठैत बन जाती है, जो शांतिपूर्ण जन–आंदोलनों को अपनी सैन्य शक्ति से कुचलने का प्रयास करती है।

इस प्रशासनिक और कॉर्पोरेट साठगांठ का सबसे वीभत्स रूप तब सामने आता है, जब अपनी जमीन, अपने पुरखों के दफ्न स्थलों (ससनदीरी) और अरण्य को बचाने के लिए शांतिपूर्ण ढंग से आंदोलन करने वाले मूल निवासियों पर राज्य द्वारा शविकास विरोधी', 'देशद्रोही' या 'नक्सली' का ठप्पा लगा दिया जाता है। रणेन्द्र अपने उपन्यासों में उन फर्जी पुलिस मुठभेड़ों और दमनकारी कानूनी दांव–पेंचों की कड़वी सच्चाइयों को परत–दर–परत खोलते हैं, जिनके माध्यम से निर्दोष आदिवासी युवाओं को वर्षों तक जेलों की सलाखों के पीछे सड़ने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार, रणेन्द्र का कथा साहित्य समकालीन भारतीय लोकतंत्र की सीमाओं, उसकी न्यायप्रणाली की विसंगतियों और हाशिए के समाज के प्रति उसके औपनिवेशिक दृष्टिकोण पर एक अत्यंत तीखा और गंभीर प्रहार करता है।

सांस्कृतिक संक्रमण, भूमंडलीकरण और भाषाई विलुप्ति का संकट

भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद और अनियंत्रित बाजारवाद के इस तीव्र प्रवाह में आदिवासी संस्कृति एक अत्यंत आत्मघाती सांस्कृतिक संक्रमण के दौर से गुजर रही है। आधुनिक दृश्य–श्रव्य माध्यमों, टेलीविजन, मोबाइल इंटरनेट और चकाचौंध से भरी उपभोक्तावादी जीवन–शैली ने आदिवासी युवा पीढ़ी को अपनी सांस्कृतिक जड़ों, अपने लोक–मूल्यों और अपनी भाषाई विरासत से काटने का एक अत्यंत सूक्ष्म परंतु आत्मघाती कार्य किया है। उनकी पारंपरिक सामाजिक व्यवस्थाएँ, जो पूरी तरह से लोकतांत्रिक, वर्गविहीन और समतावादी थींकृजहाँ महिलाओं को पुरुषों के समान ही सामाजिक, आर्थिक और वैवाहिक स्वतंत्रता प्राप्त थी–वे अब मुख्यधारा के समाज की पितृसत्तात्मक विकृतियों, जातिगत संकीर्णताओं और सामंती बुराइयों की चपेट में आ रही हैं। इसके अतिरिक्त, बाहरी धार्मिक प्रणालियों का आक्रामक हस्तक्षेप भी उनकी मूल 'सरना' यानी प्रकृति–पूजक पहचान को लगातार धुंधला कर रहा है।

इस सांस्कृतिक संहार के समानांतर ही भाषाई लोप और विलुप्ति का संकट भी एक भयावह रूप धारण कर चुका है। असुर, कुड़ुख, मुंडारी, संथाली, हो और गोंडी जैसी समृद्ध लोक–भाषाएँ आज नई पीढ़ी के बीच अपनी प्रासंगिकता और पकड़ खोती जा रही हैं। मुख्यधारा की संभ्रांत शिक्षा व्यवस्था, अंग्रेजी और हिन्दी के भाषाई वर्चस्व तथा रोजगार की विवशताओं ने इन मातृभाषाओं को सामाजिक और अकादमिक स्तर पर हाशिए पर धकेल दिया है। रणेन्द्र अपने उपन्यासों में इस बात पर गंभीर चिंता व्यक्त करते हैं कि जब कोई आदिम भाषा मरती है तो उसके साथ केवल कुछ शब्द या व्याकरण नहीं मरते, अपितु उसके साथ सदियों का संचित पारंपरिक ज्ञान, अनूठे लोकगीत, मुहावरे और प्रकृति को संतुलित रूप से समझने की वह अमूल्य दृष्टि भी हमेशा के लिए नष्ट हो जाती है जो आधुनिक विज्ञान के पास भी उपलब्ध नहीं है।

Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-7| July-2026

मिथकों का पुनर्पाठ और इतिहास का प्रति–आख्यान

रणेन्द्र की वैचारिक और रचनात्मक मेधा की सबसे अनुपम और श्लाघनीय विशेषता है–मुख्यधारा के इतिहास और पौराणिक मिथकों का प्रति–आख्यान गढ़ना। मुख्यधारा के ब्राह्मणवादी इतिहास और वैदिक पौराणिक आख्यानों को सदैव विजेताओं के दृष्टिकोण से लिखा गया है, जिसमें इस देश के मूल निवासियों को 'राक्षस', 'असुर', 'दैत्य', 'दानव' या 'दस्यु' जैसी हिंसक, अनैतिक और क्रूर संज्ञाओं से विभूषित करके इतिहास के पन्नों में कलंकित किया गया है। रणेन्द्र का कथा साहित्य इस ऐतिहासिक और पौराणिक अन्याय को अत्यंत तार्किक और अकादमिक रूप से चुनौती देता है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में रणेन्द्र ने 'महिषासुर' के मिथक को पूरी तरह से उलटकर रख दिया है और विजेताओं के इतिहास लेखन के पीछे छिपे छल–प्रपंच को उजागर किया है।

उपन्यास के माध्यम से वे यह स्थापित करते हैं कि 'असुर' जनजाति के लोग महिषासुर को कोई खलनायक या राक्षस नहीं, अपितु अपना परम पूजनीय पूर्वज, रक्षक और एक अत्यंत न्यायप्रिय, समतावादी लोक–नायक मानते हैं, जिनकी आर्यों द्वारा कपट और छल–प्रपंच के माध्यम से हत्या की गई थी। इसके साथ ही, वे पाठकों को इस विस्मृत ऐतिहासिक यथार्थ से रूबरू कराते हैं कि 'असुर' वास्तव में वह महान आदिम वैज्ञानिक जाति थी, जिसने मानव सभ्यता के इतिहास में सर्वप्रथम लोहे को गलाने, उसे शुद्ध करने और उससे औजार बनाने के 'धातु–विज्ञान' की अद्भुत खोज की थी। इसी प्रकार, महाभारत के एकलव्य और रामायण के शंबूक जैसे चरित्रों को आदिवासी अस्मिता के दृष्टिकोण से पुनः परिभाषित किया जा रहा है। यह पौराणिक पुनर्पाठ आदिवासी समाज के भीतर सदियों से जमी हीनभावना को उखाड़ फेंकता है और उन्हें अपनी जड़ों, अपने गौरवशाली अतीत तथा अपनी मूल पहचान पर गर्व करना सिखाता है।

कविता और कथा साहित्य में आदिवासी स्त्री अस्मिता का जुझारू स्वर

रणेन्द्र के कथा साहित्य के समानांतर यदि हम समकालीन आदिवासी चेतना का मूल्यांकन करें, तो अरण्य समाज की स्त्रियों ने साहित्य में एक अभूतपूर्व, मारक और जुझारू स्वर विकसित किया है जो मुख्यधारा के बुर्जुआ नारीवाद से सर्वथा भिन्न है। निर्मला पुतुल की कविताएँ इसका सबसे देदीप्यमान उदाहरण हैं, जिनके कविता संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते 'शब्द' और 'अपने घर की तलाश में' ने हिन्दी साहित्य की रूढ़िवादी आलोचना को झकझोर कर रख दिया था। निर्मला पुतुल और रानेंद्र की स्त्री–दृष्टि में एक अद्भुत साम्य है; वे दोनों केवल बाहरी 'शोषकों (दिकुओं) पर ही प्रहार नहीं करते, वरन वे अपने खुद के आदिवासी समाज के भीतर घुसपैठ कर चुकी पितृसत्तात्मक प्रवृत्तियों को भी कटघरे में खड़ा करते हैं। वे उस कड़वे यथार्थ को सामने लाते हैं जहाँ पुरुष 'हड़िया' पीकर मदहोश रहता है और आदिवासी स्त्री दिन–रात हाड़–तोड़ मेहनत करने के बाद भी घरेलू हिंसा और सामाजिक दमन का शिकार होती है।

इसी प्रतिरोधी श्रृंखला में जसिंता केरकेट्टा का नाम समकालीन हिन्दी कविता में अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। उनके काव्य संग्रह 'अंगोर' और 'जड़ों की जमीन' में विस्थापन के मार्मिक दर्द के साथ–साथ एक बेहद तीखा राजनीतिक और दार्शनिक प्रतिरोध दिखाई देता है। वे अपनी रचनाओं में स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित करती हैं कि जो राज्य–तंत्र आदिवासियों को 'विकास विरोधी' या 'नक्सली' कहकर फर्जी मुकदमों में जेलों में डाल रहा है, उसकी आँखें वास्तव में आदिवासियों के प्रति संवेदनशील नहीं हैं, बल्कि वे उनकी पवित्र जमीन के नीचे छिपे असीमित कोयले, लोहे और बॉक्साइट की पूँजीवादी भूख से ग्रस्त हैं। ग्रेस कुजूर, वंदना टेटे और रोज केकेट्टा जैसी विदुषी लेखिकाओं ने भी अपने कथा साहित्य और कविताओं के माध्यम से आदिवासी स्त्री के उस वास्तविक चरित्र को प्रतिष्ठित किया है जो केवल असहाय पीड़िता नहीं है, बल्कि अपनी अस्मिता, अपनी मर्यादा और अपनी जल–जंगल–जमीन की संप्रभुता की रक्षा के लिए युद्ध के मैदान में हाथ में तीर–धनुष और कलम थामे सबसे अग्रिम पंक्ति में खड़ी है।

ऐतिहासिक उलगुलान की विरासत और आधुनिक प्रतिरोध की रणनीतियाँ

रणेन्द्र के उपन्यास और समकालीन कथा साहित्य केवल निराशा, पराजय या नियतिवाद के आंसू बहाने वाला साहित्य नहीं है– यह अनिवार्य रूप से प्रतिरोध और संघर्ष का साहित्य है। आदिवासी समाज का इतिहास कभी भी चुपचाप अन्याय सहने या आत्मसमर्पण करने का इतिहास नहीं रहा है। सन् 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से भी बहुत पहले, वर्ष 1784 में बाबा तिलका मांझी ने ब्रिटिश हुकूमत के औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध तीर–धनुष उठाकर प्रथम सशस्त्र विद्रोह का बिगुल फूंका था। इसके पश्चात सिदो–कान्हू और चांद–भैरव के नेतृत्व में हुआ संथाल हुल (1855) तथा धरती आबा भगवान बिरसा मुंडा का ऐतिहासिक 'उलगुलान' (1895–1900) भारतीय इतिहास के वे स्वर्णिम पृष्ठ हैं, जो आज भी आदिवासी चेतना की धमनियों में रक्त बनकर दौड़ रहे हैं। रणेन्द्र अपने उपन्यासों में इन वीर शहीदों की क्रांतिकारी विरासत को बार–बार याद करते हैं ताकि वर्तमान शोषित पीढ़ी को संघर्ष की अविरल प्रेरणा प्राप्त हो सके।

आज का आधुनिक आदिवासी समाज अतीत के उसी 'उलगुलान' की तर्ज पर पूर्णतः लोकतांत्रिक, अहिंसक और संवैधानिक रणनीतियों के सहारे जल–जंगल–जमीन की रक्षा की लड़ाई लड़ रहा है। विगत वर्षों में झारखंड और छत्तीसगढ़ के अंचलों में उभरा 'पत्थलगड़ी आंदोलन' इसका जीवंत और ज्वलंत प्रमाण है, जहाँ गांवों की सीमाओं पर विशालकाय शिलापट्टों (पत्थरों) पर भारतीय संविधान की पांचवीं अनुसूची और पेसा कानून–1996 1 के प्रावधानों को खोदकर लिखा गया ताकि संवेदनहीन प्रशासनिक तंत्र को उनकी ग्राम–सभा की स्वायत्तता और संप्रभुता की याद दिलाई जा सके। रणेन्द्र का कथा साहित्य इन समकालीन जन–आंदोलनों के साथ रचनात्मक रूप से कदमताल करता है। लेखकों की लेखनी आज कॉर्पोरेट गिद्धों के विरुद्ध आदिवासियों के जल–जंगल–जमीन के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए एक अभेद्य वैचारिक ढाल का कार्य कर रही है।

निष्कर्ष (हिन्दी आलोचना को रणेन्द्र की युगांतरकारी देन)

अंतिम रूप से समीक्षात्मक निष्कर्ष के तौर पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'रानेंद्र के उपन्यास व कथा साहित्य में आदिवासी चेतना' का यह अनुशीलन केवल साहित्यिक विधाओं या कथा–भूमियों के विस्तार का सामान्य प्रसंग नहीं है, अपितु यह हमारी समूची मुख्यधारा की सामूहिक मानवीय चेतना के शुद्धिकरण और उसके आत्म–साक्षात्कार का भगीरथ प्रयास है। रणेन्द्र के कथा साहित्य ने पारंपरिक हिन्दी आलोचना के अभिजात्य और कूपमंडूक ढाँचे को तोड़कर उसे नए, प्रगतिशील और समतावादी प्रतिमान प्रदान किए हैं। उन्होंने हिन्दी जगत को यह दृढ़तापूर्वक सिखाया है कि किसी भी कालजयी साहित्य का मूल्यांकन केवल भाषा के कृत्रिम चमत्कारों, अलंकारों की बाजीगरी या रस और छंदों के आधार पर नहीं होना चाहिए, बल्कि इस कठोर प्रतिमान पर होना चाहिए कि वह रचना प्रकृति, मनुष्य और ब्रह्मांड के सह–अस्तित्व के प्रति कितनी ईमानदार, संवेदनशील और प्रतिरोधी है। कथाकार रणेन्द्र का ऐतिहासिक और साहित्यिक अवदान यह है कि उन्होंने मुख्यधारा के संभ्रांत और सोए हुए समाज की आँखों पर बंधी 'छद्म विकास' की पट्टी को खोलने का साहसिक कार्य किया है।

रणेन्द्र का लेखन तथाकथित आधुनिक सभ्यता के उस क्रूर चेहरे को बेनकाब करता है, जो विकास के नाम पर एक पूरी संस्कृति और प्रकृति का विनाश कर रही है।भाषाई और शिल्प के स्तर पर रणेन्द्र ने स्थानीय बोलियों, आदिवासी शब्दावली और लोक–तत्वों का अनूठा प्रयोग किया है। उनकी भाषा में एक अजीब सी सोंधी महक और तीखापन है, जो सीधे पाठक के मर्म को छूता है। वह प्रशासनिक तंत्र की संवेदनहीनता और राजनीति के गठजोड़ पर भी करारा प्रहार करते हैं। रणेन्द्र का कथा–साहित्य केवल मनोरंजन या कोरी कल्पना का संसार नहीं है, बल्कि वह समकालीन भारत के सबसे बड़े मानवीय और पर्यावरणीय संकट का एक जीवंत, प्रामाणिक और ऐतिहासिक दस्तावेज है। उनकी रचनाएं हमें एक ऐसे समाज के निर्माण की ओर सचेत करती हैं जो समावेशी हो और जहां प्रकृति तथा मनुष्य का सह–अस्तित्व सुरक्षित रह सके। हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श को एक मुकम्मल पहचान दिलाने में उनका योगदान सदैव अतुलनीय रहेगा तथा उनका कथा साहित्य अरण्य चेतना का संवाहक बनकर एक न्यायपूर्ण, समतामूलक, शोषणमुक्त और परम संवेदनशील वसुधा के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है।

Journal of Research and Development
A Multidisciplinary International Level Referred and Double Blind Peer Reviewed, Open Access
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-18, Issue-7| July-2026

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. रणेन्द्र – ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2009।
2. रणेन्द्र – गायब होता देश, प्रविष्टि प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014।
3. रणेन्द्र – गूंगी रुलाई का कोरस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2021।
4. संजीव – धार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. माजी, महुआ – मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012।
6. पुतुल, निर्मला – नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2004।
7. केरकेट्टा, जसिंता – अंगोर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2016।
8. मुंडा, डॉ.रामदयाल – आदिवासी अस्मिता के संकट, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली।
9. सिंहवीरभारत – झारखंड का इतिहास और आदिवासी संघर्ष, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
10. मीणा, गंगासहाय – आदिवासी विमर्श की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2014।7
11. रामनाथ, देवकुमार – आदिवासी विमर्श : अवधारणा और सरोकार. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2011।
12. टोप्पो, रोज– आदिवासी विमर्श : विविध आयाम. सामयिक प्रकाशन, 2018।
13. हंसदा, जोबा– आदिवासी संस्कृति और साहित्य. किताबघर प्रकाशन, 2016।
14. केरकेट्टा, जसिंता– अंगोर. भारतीय ज्ञानपीठ, 2016।
15. कथाकार, हरिराम– आदिवासी अस्मिता का संकट. वाग्देवी प्रकाशन, 2010।
16. तिर्की, विमल–आदिवासी कला और जीवन–दर्शन. अनामिका पब्लिशर्स, 2015।
17. कुमार, संजीव–झारखंड का आदिवासी विमर्श और हिन्दी उपन्यास. राजकमल प्रकाशन, 2012।